लव–कुश कथा रहस्य

मर्यादा–कथा

सप्त द्वीप पति असुरराज दशानन रावण के शव को लेकर मन्दोदरी बिलखती हुई चली गई है। प्रलय के तांडव को गिद्ध और कौवे, लाशों को नोचते, भयानकतम रंग दे रहे हैं। युद्ध समाप्त हो चुका है। जो हारे, सो हारे! जो जीते, क्या वे सचमुच जीत गये?

सीता जी को लिवाने लक्ष्मण और विभीषण जी बहुत समय पूर्व जा चुके हैं। अब लौटते ही होंगे। राघवेन्द्र एक अन्तर्युद्ध में दहलाये हुये हैं। यह युद्ध कहीं रावण युद्ध से भी भयंकर है। आज प्रश्न एक सीता का नहीं है। पति के लिए पत्नी की समस्या की चर्चा नहीं है। वरन् उससे जुड़ा है सामाजिक, धार्मिक, वंशानुगत मर्यादा का विकराल प्रश्न?

श्री रामचन्द्र जी जानकी को स्वीकारें अथवा दूषित कहकर परित्याग कर दें?

श्री राम को अपने और जानकी के हित में ही नहीं ! मर्यादा, समाज, धर्म संस्कृति और नारी के हित में भी सूक्ष्म निर्णय लेना होगा ! जिस प्राण बल्लभा के लिए हर क्षण तड़पे, सिसके! भयंकर युद्ध लड़े ! आघात सहे ! क्या उसे स्वीकार कर पावेंगे ? ओह !! मैं उस मनः स्थिति का वर्णन कैसे करूँ।

एक असुर द्वारा जबरन उठाई हुई अबला के प्रति समाज, पति का धर्म और संस्कृति का, तथा पूर्ण मानवता का क्या व्यवहार होना चाहिए ? बात सिर्फ दो तक ही सीमित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण मानवता की अग्नि परीक्षा के क्षण हैं। राघवेन्द्र ! सोचो ? क्या निर्णय है तुम्हारा ?

क्या उसे दूषित कहकर त्याग कर दोगे ? अथवा उसको अंगीकार कर समाज का सामना करने का साहस है तुममें ?

आज अग्नि परीक्षा है तुम्हारी ! लोक निन्दा, अपयश, व्यंग–कटाक्ष और समाज का उपेक्षित व्यवहार का भय है एक ओर ! तो दूसरी ओर सत्य, न्याय, यज्ञ की वेदी के सम्मुख संकल्पों की प्रतिष्ठा ! सब कुछ ! दांव पर लगी है ! राघवेन्द्र ! क्या निर्णय है तुम्हारा ? ओह ! क्या हो ? क्या हो? बाहर से शान्त थिर गम्भीर ! भीतर भयंकर विचार–युद्ध का प्रलय ! राघवेन्द्र ! हे महान रघु के वंशज ! हे श्रेष्ठ भरत वंशी !! क्षण फिसल रहे हैं निर्णय के समीप हो ! बोलो ! तुम्हारी जानकी मिलेगी अथवा अन्तिम रूप

से त्यक्त होगी ? बोलो ! क्या करोगे ?

ठहरो !! प्रश्न मात्र जानकी का नहीं ! परम्परा का है ! यदि आज जानकी त्यक्त होगी तो कल कितनी ही निरीह अबलाओं को आत्म–दाह करना होगा ? क्या यह मानवीय होगा ? क्या यह धर्म का न्याय होगा ?

राघवेन्द्र को लग रहा है जैसे उनके सारे शरीर से अग्नि ज्वालायें प्रस्फुटित हो रही हैं ! रोम–रोम ज्वालामय हो उठा है। अग्नि परीक्षा के क्षण हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम अग्नि परीक्षा में जल रहे हैं।

।। नारायण हरि ।।

जानकी मिलन

अशोक वाटिका शोक सन्तप्त है आज ! असुरराज अन्तिम पराजय को प्राप्त होकर मृत्यु निन्द्रा की गोद में सदा के लिए सो गये हैं। करुण क्रन्दन ! भय, आतंक, अनिश्चितता और सती होने की तैयारियों में उलझी रानियाँ!

एक पिघलता सा, उबलता सा दिन ! हर क्षण पहेली सा उलझता, हर साँस विचित्र अनजानी सी ? टूटे तार ! फूटे साज ! छितराये नूपुर !! कोई किसी को पहचान नहीं रहा है।

लक्ष्मण जी ने जानकी जी के चरणों में सिर रख दिया है। अश्रु जल से उस परम तेजस्विनी, कृश–काय के चरण धोने लगे हैं। लिवाने का आवाहन है उनमें।

जानकी स्तब्ध हैं ! मौन ! शिला सी ! जिस क्षण की कल्पना में हर क्षण तपीं ! आज वे क्षण ही असह रूप से भारी हो उठे हैं ! आह !! जिस सुखद मिलन की कल्पनां उसे जिलाये रही ! जिस आस में सांस रुकी नहीं, दिल धड़कता रहा ! वे सुखद क्षण इतने पीड़ायुक्त हो उठें हैं।

जानकी !! तू उस महामानव का सामना कैसे करेगी ? क्या समाज उसे तुम्हारे साथ जीने देगा ? समाज, उस पर कलंक और कीचड़ उछालेगा ! तेरा नाम लेकर उसे अपमानित करेगा ! क्या तूझे यह सब सहन होगा ? अपमान की पीड़ा से जब उसका मुख मण्डल बोझिल होगा ! क्या तू देख पावेगी ? महान रघु के वंशज क्या तेरे कारण लोक निन्दा को प्राप्त

न होंगे ? जानकी ! जानकी !!

जानकी स्थिर हैं ! जिस क्षण के लिए, हर क्षण जीवित रहने की कामना बनी रही, वही क्षण अब जिन्दगी को झुठला देना चाहते हैं ! सागर के किनारे नाव डूबना चाहती है ! अग्नि–परीक्षा के मार्मिक क्षण हैं !

अन्तर्मन में दहक रही है "हा ! दैव !! कितनी अभागिन हूँ मैं ! हे माँ दुर्गा !! हे प्रलय की ज्वाला ! मुझे शक्ति दो ! प्राणेश के श्री चरणों का स्पर्श लेकर मैं अग्नियों में स्वयं को समर्पित कर सकूँ ! माँ शक्ति दो ! मैं अपना बलिदान देकर महान रघुवंश को लोक निन्दा से बचा सकूँ। माँ !! असुर राज ने मेरे जीने के सारे अधिकार नष्ट कर दिये हैं। अपने प्रभु के अन्तिम दर्शन का साहस दो मुझको।"

डोली चल दी है। त्रिजटा आदि बहुत–बहुत कुछ कहती रही हैं। जानकी को धुंधली–धुंधली सी स्मृति है। उसे तो बस इतना ही लगता रहा है कि उसका सारा शरीर दहकते अंगारों पर रखा हुआ है और सूखे उपलों सा उसका रोम–रोम जल रहा है। नेत्रों में अनायास प्राणेश के कितने–कितने रूप, भाव–भंगिमायें; अनियन्त्रित स्मृतियाँ ! बस यही सब कुछ तो ! एक ही चाह ! मात्र अन्तिम इच्छा ! प्राणेश तुम में विचार स्थिर हो। तुम्हें देखती रहूँ टकटकी लगाकर और तन ज्वालाओं में शेष हो जाय।

।। नारायण हरि।।

अग्नि–परीक्षा

"जानकी। बाहर आओ।"

चौंक उठी जानकी। ओह। राघवेन्द्र के शब्द। पर्दा उठाये राघवेन्द्र खड़े थे। जानकी उन्हें न जाने कितनी देर टकटकी बाँधकर देखती रह गई।

"जानकी तुमने कितना कष्ट सहा। अब दुःख के दिन समाप्त हो चुके हैं। उठो हम शीघ्र अयोध्या जा रहे हैं।

"राघवेन्द्र।" बस जानकी इतना ही तो कह पाई। नेत्र बरस उठे। उठी, बाहर आने को तो लड़खड़ा गई। राघवेन्द्र ने सहारा देना चाहा तो सर्वांग कांपकर रह गई। राघवेन्द्र चौंके।

"जानकी ? क्या तुमने हम दोनों को क्षमा नहीं किया ?"

"नाथ !!!" जानकी पुनः फफक कर रो उठी। "इस पापिन का स्पर्श न करें। जिसे बांह से पकड़कर नीच असुर ने घसीटा है। नारायण ! वह आपके स्पर्श के योग्य नहीं है।"

"जानकी ! तुम्हारे स्पर्श से असुर के पाप ही नष्ट हो सकते हैं। तुम अग्नि के समान सदा पवित्र हो।"

"स्वामी ! भावुकता का त्याग करें। इस अभागिन को अग्नियों का वरण करने की कृपा पूर्वक आज्ञा प्रदान करें। आपने अपने नाम एवं कुल की मर्यादा के अनुरूप पतित रावण को दण्ड दिया है। आपकी मर्यादा भी यही थी। परन्तु हे स्वामी ! आप केवल प्रेम के वशीभूत होकर यश, अपयश का विचार किये बिना इस अभागिन्न को अयोध्या चलने का आदेश कर रहे हैं। यह सम्भव नहीं है मेरा घर तो मेरे सम्मुख धधकती ज्वालायें हैं। प्राणेश। एक ही भिक्षा चाहती हूँ। एक ही चाह है। लपटों से आपको निहारती ही रहूँ। विचार आप में ही स्थिर रहे, फिर–फिर आपके चरणों की सेवा मिले !"........

"जानकी। ऐसा नहीं होगा। तुम अग्नियों का वरण नहीं।"............

"सूर्यकुल मणि। कृपा पूर्वक आज्ञा प्रदान करें। जानकी, महान, रघुकुल का कलंक बनकर एक क्षण भी जीना नहीं चाहेगी। सब शेष हो चुका है स्वामी। ज्वाला के अतिरिक्ति अब कुछ भी शेष नहीं है। ये ज्वालायें ही पापों का प्रायश्चित हैं। यही पावन गंगा है।"

राघवेन्द्र समझा रहे हैं परन्तु महान जानकी ज्वालाओं का वरण करने को आतुर हैं ! उन्होंने सच्चे मन से सबको क्षमा ही नहीं कर दिया है वरन् सभी विचारों का भी परित्याग कर एक "श्री राम" रूपी विचार में एकाग्र हो चुकी है। दूर लक्ष्मण जी एवं विभीषण जी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े हैं। दृढ़ता पूर्वक जानकी ज्वालाओं की ओर बढ़ती हैं। राघवेन्द्र की आवाज भी मानो उन तक नहीं पहुँच रही है। वे लपटों में प्रवेश कर ही जाती हैं राघवेन्द्र तत्क्षण उन्हें बलपूर्वक बाहर खींच लेते हैं। राघवेन्द्र की मुख मुद्रा शान्त है। वाणी गम्भीर एवं स्थिर है, "जानकी। राघवेन्द्र मात्र प्रेम के वशीभूत होकर तुम्हें अग्नि–प्रवेश से नहीं मना कर रहे वरन् समाज, धर्म, मर्यादा और मानवता के हित में तुम्हें अग्नि–दाह से रोक रहे हैं।

जानकी। आज अकेली तुम ही नहीं जलोगी। युगों तक निरीह भोली अबलायें जलती रहेंगी। उस सारे पाप का कारण हम और तुम होंगे।''....

''राघवेन्द्र। मैं कुछ सोच नहीं पा रही हूँ। मेरे कारण आप कलंकित हों, यह विचार ही असह है।''........

''हमारे कारण युगों तक अबलायें; निरीह और निष्पाप जलती रहें। समाज एक गलत अमानवीय परम्परा को धारण करे। ऐसा भी तो असह है।''

''राघवेन्द्र ! मैं कुछ सोच नहीं पा रही हूँ। भ्रमित हूँ।''

''जानकी ! मैं सत्य की राह पर हूँ। मेरा साथ दो।''

''प्रभु ! एक वचन दो। जब कभी भी किसी ने मेरा नाम लेकर महान रघुवंश को अपमानित करना चाहा; आप तत्क्षण मेरा परित्याग कर देंगे।''

''यदि तुम चाहती हो तो मैं वचन देता हूँ। जानकी मुझे पूर्ण विश्वास है कि समाज हमारे द्वारा प्रतिपादित मर्यादा का पूर्ण सम्मान करेगा। राम स्वयं को समाज पर थोपना भी नहीं चाहेगा। यदि समाज हमारी मर्यादा को नहीं स्वीकारेगा तो राम तुम्हारे साथ ही समाज का भी त्याग करेगा।''

तभी ज्वालाओं से अग्नि देव प्रकट हुये। उनकी देह से सहस्त्र मणियों की कान्ति प्रस्फुटित हो रही थी। उन्होंने दोनों को सम्बोधित करके कहा, ''जानकी ! तुम पवित्र एवं निष्पाप हो। तुम्हें मेरी अग्नियाँ कभी जला न पावेंगी? हे राम ! तुम सत्य हो ! मर्यादा–पुरुषोत्तम धरती तुम्हें सदा पुकारेगी।''

हे राम!

श्री राम अवध में

श्री रामचन्द्र जी अवधेश सुशोभित हुये हैं। प्रजा आनन्द मग्न है। श्री भरत जी के सुख की सीमा कहाँ ! पिछली पीड़ायें मिटती जा रही हैं। समय पुराने घाव भर गया है।

श्री रामचन्द्र ने लंका को जीतने के उपरान्त, उसका सिंहासन विभीषण को सौंप दिया था। भरत महान की, वरद संस्कृति के पुत्र, आधीनता में विश्वास नहीं करते। पूर्वी पाकिस्तान को जीतने के बाद भारतीय सेनायें बंग्ला देश की नई सरकार कों बागडोर सौंपकर लौट आई थी। किसी को पराधीन बनाने में वीरता नहीं है। निरीह, निरपराध, भोले

पुरुषों को गुलाम बनाना भारत की संस्कृति में कायरता ही नहीं, महापाप है। परमेश्वर को दी गयी गाली के समान है। अबलाओं को जबरन पकड़कर वैश्या बनाकर बेचना अधर्म है। मनुष्यता से गिरा हुआ ईश्वर का आदेश नहीं हो सकता। वह तो शैतान की ही पूजा होगी। रामचन्द्र ने आज स्वतन्त्र भारत देश की वर्तमान कथा, तक; भारत देश ने महान मूल्यों का ही पालन किया है। विश्व के दूसरे धर्मावलम्बी असुरत्व से प्रेरित, तथाकथित ईश्वरवाद की बात को करते रहे, परन्तु उनके गन्दे हाथ मानवता को गुलामी में जकड़ कर ईश्वर वाद का अपमान ही करते रहे। मनुष्यता को गुलाम बनाने वाले, ईश्वर औरधर्म के हत्यारे ही तो हैं। गुलाम ईश्वर ही तो हो रहा था। काश वे मनुष्य बन पाते और अपने अन्तर में झाँक पाते।

समय पंख लगाये उड़ा जा रहा है। श्री राम को पाकर सरयू के तट महक उठे हैं। तीन वर्ष बीत गये हैं। (यहाँ बहुत से कथाकारों ने समय नहीं दिया है। परन्तु अन्य ने अलग–अलग समय बताया है जो कि तीन वर्ष से सात वर्ष के भीतर ही है।) राजा राम की नगरी असीम सुख और आनन्द को प्राप्त है।

अभी पौ फटने को शेष है। पूरब में मोहक स्निग्ध छटा सी आभासित हो रही है। राघवेन्द्र जानकी जी के साथ प्रातः भ्रमण हेतु रथ पर निकले हैं। राघवेन्द्र स्वयं रथ हाँक रहे हैं। जानकी जी उनसे रास ले लेती हैं। अब वे रथ हाँकने लगी हैं। उनकी मोहक मुस्कान, नेत्रों में जगमग लहराते, प्रेम के मोतियों का अक्षय भण्डार। क्षण–क्षण रस बरस रहा है। जानकी जी गर्भवती हैं। मातृत्व उनके अंगों से प्रस्फुटित होकर उनके सौन्दर्य को सहस्त्र गुणा बढ़ा रहा है। रथ नगर की गलियों से निकालकर सरयु के तट पाने को बढ़ता जा रहा है। तभी.........

"तुम समझती हो कि मैं तुम्हें घर में रख लूँगा। नीच। रात भर किसके साथ रही ? बता ?"

"स्वामी मुझ पर दया करो। मैं निरपराध हूँ।"

"जा–जा। मैं राम नहीं जो तुझको घर में बसा लूँ। दुष्टे। निकल जा।".........

रथ रूक गया है। धोबी अपनी पत्नी को डाँट रहा है। जानकी स्तब्ध खड़ी सुन रही हैं। उनके नेत्र छलछला आये हैं। राघवेन्द्र घोड़ों की रास उनसे लेकर रथ तेजी से आगे बढ़ा ले जाते हैं। परन्तु जो होना था, वह तो हो ही चुका है। गहन विषाद की छाया जानकी के चेहरे पर नाचने लगी

है। दोनों मौन हैं। रथ आगे बढ़ता जा रहा है। दोनों के अन्तर में तूफान उठ रहा है। जानकी को उनके ही शब्द......"एक वचन दो। जब भी कोई मेरा नाम लेकर महान रघुवंश को कलंकित करेगा; आप तत्क्षण मेरा परित्याग".....

न जाने कितनी बार यह वाक्य दोनों के अन्तर्मन में गूँजते रहे हैं। मौन फिर मौन ही बनकर रह गया है। दोनों फिर आपस में कहाँ बोल पाये हैं।

राघवेन्द्र सारा दिन विचारों में ही खोये रहे हैं। "जानकी। काश। तुमने वचन की बात न की होती। मेरे बिना तुम कैसे जी पाओगे ? राघवेन्द्र अब तुम क्या करोगे ? क्या अपने वचन से विमुख हो जाओगे ? फिर तुम यह भी क्यों भूलते हो कि तुम मात्र एक पति ही नहीं वरन् अयोध्या के सम्राट भी तो हो? जब तुम जन–जन के सम्मान के अधिकारी हो तो उनके सन्देहों का उतना ही उत्तरदायित्व तुम पर भी तो है ? बोलो ? क्या निर्णय है तुम्हारा।

राघवेन्द्र विचारों में खोये बस टहलते रहे हैं। बात सिर्फ एक धोबी की ही नहीं; वरन समाज एक वर्ग ने श्री राम की मर्यादा को समाज के विपरीत माना है तथा वे करते रहे हैं। उनके मत से इस प्रकार की मर्यादा नारी को उच्छंखल बनने का साहस देगी और समाज दूषित हो जावेगा।

जानकी की भी वही स्थिति है। "काश" ! राघवेन्द्र ! तुमने मुझे स्वयं को अग्नियों को समर्पित करने दिया होता ! आज तुम इतने बड़े अपमान को तो न प्राप्त होते। रघु के महान वंशज ! तुम्हारी लोक निन्दा और अपमान का कारण मैं बनी। ओह........काश ! राघवेन्द्र.........तुम कुल की मर्यादा के अनुरूप आचरण कर पाते। देव ! तुम अपने वचन को पूरा कर पाते। आह ! जानकी! तेरे बिना राघवेन्द्र कितने उदास होंगे। महलों का सूनापन क्या उन्हें जीने देगा.......जानकी.......तू भी क्या राघवेन्द्र के बिना जीवित रह पावेगी ?"

दिन यूँ ही ढला है। रात और भी अधिक पीड़ा और व्यथा को लेकर उतर आई है। राघवेन्द्र उद्यानों में रात भर टहलते रहे हैं और जानकी जगदम्बा के मन्दिर के ठण्डे फर्श पर। दोनों तड़प रहे हैं। दोनों व्याकुल हैं। दोनों एक दूसरे को सांत्वना देना चाहते हैं। परन्तु एक दूसरे का सामना करने का साहस दोनों में नहीं है।

और इन क्षणों के वर्णन का साहस, अब इस सन्यासी में भी तो नहीं है।

हे राम !

लक्ष्मण को आदेश

"लक्ष्मण। आज फिर जानकी को वन जाना होगा। तुम उनको लेकर जाओ। महर्षि बाल्मीकि की कुटिया के समीप छोड़ देना। जब पूछें। ऐसा क्यों ? तो कह देना सम्राट राम का यही आदेश है।"

"भैया !! उनका अपराध ?" लक्ष्मण जी को मानो अपने कानों पर विश्वास ही न रहा हो।

"अपराध ?" राघवेन्द्र चौंके। पुनः थिर गम्भीर होकर कहा, "जानकी का अपराध ? नहीं......... राज दण्ड दिया गया है।" राघवेन्द्र ने कहा।

"क्या मैं सम्राट श्री राम के दण्ड के कारण को जानने की याचना कर सकता हूँ ? अपराधी को उसका अपराध बताये बिना दण्ड घोषित करना अनुचित होगा।"

लक्ष्मण जी की वाणी में व्यंग का तीखापन है। राघवेन्द्र शान्त है।

"लक्ष्मण! प्रजा ने मेरी मर्यादा में सन्देह प्रकट किया है। जनादेश की अवहेलना नहीं हो सकती। जानकी को मुझसे त्यक्त होकर तापस वनवासी जीवन ही बिताना होगा।"

"भैया......... जिनकी अग्नि–परीक्षा हो चुकी है। जिन्हें स्वयं अग्निदेव ने प्रकट होकर वरद किया तथा जिस महान मर्यादा का स्वयं अग्निदेव ने अनुमोदन किया। जिस मर्यादा का आपने स्वयं प्रतिपादन किया है। आज आप उन्हीं को खण्डित करना चाहते हैं। क्या यह अनुचित नहीं है ? सिर्फ इसलिए कि कुछ प्रजाजनों ने उनमें अविश्वास".........

"लक्ष्मण ! काश......... मैं इस देश का सम्राट न होता और जानकी सम्राज्ञी न होती तो उनको वन नहीं जाना होता। जब जन–जन की आस्था और सम्मान के हम अधिकारी रहे हैं तो उनकी अनास्था का उत्तर देना भी तो हमारा कर्तव्य है। लक्ष्मण। जानकी को वन जाना ही होगा।"

"राघवेन्द्र......... जानकी तो तभी अग्नियों का सम्मानपूर्वक वरण करना चाहती थीं। आपने ही उन्हें रोका था। आज जब जानकी परित्यक्ता होकर लोक निन्दा और जग हंसाई का कारण होगी तो क्या आपका यह न्याय होगा ? आपके और रघुवंश के सम्मान के लिए क्या यह उचित होगा? मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं करू।"

लक्ष्मण जी ने दृढ़ता पूर्वक कहा।

"लक्ष्मण......... यह भाई राम की आज्ञा नहीं; सम्राट राम का आदेश है। राजाज्ञा की अवहेलना कदापि सहन न होगी।" राघवेन्द्र ने कहा।

राघवेन्द्र की मुखमुद्रा अति कठोर हो चुकी थी। प्रत्येक शब्द धन के प्रहार के समान कठोर था। लक्ष्मण जी सर्वांग कापं उठे। नेत्रों से अश्रु छलछला उठे।

"भैया ! अब मैं कुछ न कहूँगा। आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। भैया......... लक्ष्मण मर चुका।"

लक्ष्मण जी तेजी से घूमे और बाहर निकल गये। काश......... लक्ष्मण पलटकर देख पाये होते श्री राम के विशाल नेत्रों में लहराते आंसुओं की घनघोर घटाओं को।

नारायण हरि !

जानकी वन गमन

लक्ष्मण जी जब जानकी जी के पास गये तो लगा जैसे जानकी जी उन्हीं की प्रतीक्षा में तैयार बैठी हुई थीं। उनकी देह पर कोई भी आभूषण नहीं था। शान्त, गम्भीर मुख मुद्रा ! शान्त, स्थिर नेत्र ! संयत वाणी ! वे उठीं और लक्ष्मण के साथ चल दीं ! दोनों रथ पर बैठे। अभी प्रभात नहीं हुआ था। अंधेरों को चीरता रथ नगर से बाहर चल दिया। जानकी ने कुछ भी न पूछा–कुछ भी तो न कहा–लक्ष्मण जी बाहर अन्धेरे की ओर मुँह किये सिसक उठे–माँ–आज मैं तुम्हें कहाँ लिए जा रहा हूँ ? किसके सहारे......

कई स्थानों पर घोड़ों ने विश्राम लिया। जानकी निर्विकार भाव से मौन रहीं। लक्ष्मणजी चाहकर भी कुछ कहने का साहस न बटोर पाये। बाल्मीकि के आश्रम के समीप जानकी जी रथ से उत्तर पड़ीं। लक्ष्मण की धैर्य शक्ति समाप्त हो गई ! दौड़कर उनके चरणों में लिपट पड़े। फूट–फूट कर रोने लगे !

"लक्ष्मण–धैर्य धारण करो–महान क्षत्रिय इस प्रकार विचलित नहीं होते–" जानकी ने उनके सिर पर हाथ फेरते हुए समझाया।

"माँ–मैं सम्राट श्रीराम से कहा आया हूँ कि लक्ष्मण मर चुका है मुझे अपने चरणों में स्थान दो–मैं लौटकर अयोध्या नहीं जाऊँगा–"

"नहीं लक्ष्मण–तुम ऐसा कदापि नहीं करोगे–लक्ष्मण–राघवेन्द्र को तुम्हारी अत्यधिक जरूरत है। उन्हें दण्ड मत दो–उनका हृदय खण्ड–खण्ड हो चुका है। उन्होंने, जो परम उचित था वही किया है। मेरा बिना उन्हें कितना कष्ट होगा–सूने महल उन्हें कितना सतावेंगे–सुबह सूनापन लिए जगावेगी उनको–दिन राज–काज में किसी तरह काट लेंगे। परन्तु साँझ की खामोशी........? नहीं लक्ष्मण–नहीं–देखना–राघवेन्द्र कहीं टूट न जायें–लक्ष्मण उन्हें सहारा देना–बस–तुम अभी लौट जाओ–मेरे आदेश की अवहेलना न करो–यथा शीघ्र जाओ राघवेन्द्र व्याकुलता से तुम्हारी राह देखते होंगे–अब एक शब्द भी न कहो–चले जाओ लक्ष्मण–तुम्हें जानकी की सौगन्ध....."

लक्ष्मण जी आँसुओं से महातपस्विनी के चरण धोते, हिचकियाँ लेते रथ पर बैठ गये हैं–रथ पलट कर चल दिया है। जानकी वन में खड़ी, धुंधले होते रथ को एकटक देखती रहीं। रथ ओझल हो गया–जानकी के नेत्र बरस उठे–वह साँझ वन की कितनी उदास थी–जानकी–तू कहाँ–कौन है तेरा–सारा अतीत सिमट कर शून्य बन गया–वर्तमान मात्र एक निर्जन घनघोर वन–और भविष्य ? न जाने क्या हो–घने वन समीप, गहराती विशाल गंगा–दूर दिये की टिमटिमाती लौ–महर्षि बाल्मीकि की कुटिया– जानकी...

नारायण हरि !

लक्ष्मण का लौटना

जानकी जी को वन में छोड़कर लक्ष्मण जी लौटकर आते हैं तो पाते हैं राम को टूटा हुआ–उजड़ा हुआ–हताश–दोनों भाई मौन हैं। लक्ष्मण जी सिर झुकाये खड़े हैं। राघवेन्द्र पूछने का साहस बटोर रहे हैं। दस–दस सहस्त्र असुरों को मारने वाले श्री राम स्वयं में शक्ति और साहस का नितान्त अभाव पाते हैं।

लम्बी नीरवता को उनके शब्द भंग करते हैं–

"लक्ष्मण.....तुम जानकी को वन में अकेला छोड़ आये–उसने कुछ कहा?"

"सम्राट श्री राम के आदेश का सेवक ने पालन किया। जानकी ने बस इतना ही कहा कि लौटकर उनकी ही चरण सेवा करूँ.....उन्होंने मेरी सेवा नहीं स्वीकारी। कहा–तुरन्त लौटकर जाओ–देखना.....उन्हें कोई कष्ट न हो....."

"महान जानकी– "राघवेन्द्र ने गहरी निश्वास लेकर कहा–

"परित्यक्ता–लोक निन्दा की अधिकारिणी–राजदण्ड को प्राप्त–" लक्ष्मण ने व्यंग किया।

"नहीं लक्ष्मण– मैं दो धर्मों के बीच फँस गया था। एक ओर राष्ट्र का धर्म था और दूसरे ओर पति का धर्म–राम ने राष्ट्र धर्म की मर्यादा की रक्षा की है परन्तु पति धर्म से विमुख होकर–लक्ष्मण–अश्वमेघ यज्ञ की घोषणा करो–"

"यह सम्राट राम का आदेश है ?" लक्ष्मण ने कटाक्ष किया।

"नहीं लक्ष्मण–यह एक भाग्यहीन, भाई की प्रार्थना है–लक्ष्मण–यह कांटों का मुकुट अब सहन नहीं होता। अश्वमेघ यज्ञ की घोषणा करो–राम, इन महलों में नहीं रह पावेगा–लक्ष्मण–राम का गृहस्थ जीवन समाप्त हो चुका–उस निष्पाप, तपस्विनी का सामना करने का साहस अब राम में नहीं है। सरयु के तट, अश्वमेघ यज्ञ की तैयारी करो–राम सरयु में प्रवेश करेगा–"

"भैया–" लक्ष्मण फूट–फूटकर रो पड़े।

"हाँ! लक्ष्मण !! समाज ने राम की मर्यादा नहीं स्वीकारी। राम ने भी, स्वयं को समाज पर थोपना नहीं चाहा। यही इच्छा राम की प्राण बल्लभा, जानकी की भी थी। महान जानकी......... राम ने समाज के आदेश को स्वीकारा–अपनी ही मर्यादा की बलि–वेदी पर, राम और जानकी ने स्वेच्छा से अपना बलिदान किया है। राम आज भी अपनी मर्यादा पर दृढ़ हैं–अटल हैं–समाज ने हमारी मर्यादा को अस्वीकार किया है। हम दोनों ने स्वयं को कायरता पूर्वक समाज पर थोपना भी नहीं चाहा है। हम दोनों अपनी मर्यादा के साथ समाज को छोड़ रहे हैं। समाज ने हमारी मर्यादा अस्वीकारी है–हम समाज को अस्वीकार करते हैं–जाओ–अश्वमेघ यज्ञ की घोषणा करो–यह सिंहासन और मुकुट का राम त्याग करता है– सरयु के तट राम स्वयं को मिटाकर, सरयु के उस पार सन्यासी होगा–

"भैया–" लक्ष्मण जी श्री राम के चरणों से लिपट कर बरस रहे हैं।

।। नारायण हरि।।

जानकी–गंगा और बाल्मीकि

"माँ, गंगा.........मुझे शरण दो.........माँ......... अब तुम्हीं सहारा हो....... अभिशप्त, परित्यक्ता को अपनी गोद में समेट लो माँ–राघवेन्द्र के बिना मैं जी भी तो नहीं सकती–अग्निदेव ने मुझे वरदान दिया है–उनकी ज्वालायें मुझे कभी न जलावेंगी–अब तो वरदान भीअभिशाप बन गया है। मुझे वहाँ भी शान्ति नहीं–शरण न मिल पावेगी–माँ–तुम ही दया करो–मुझे अपने अंक में समेट लो माँ–"

गंगा की उत्ताल लहरों के सम्मुख खड़ी मौन जानकी–अर्न्तमन से गंगा को मौन पीड़ा सुनाती; लहरों में खो जाने की अनुमति चाहती–

जानकी आगे बढ़ती हैं–आश्चर्य–लहरें पीछे को सिमटने लगती हैं–

"जानकी तुझे यहाँ भी शरण नहीं है–गंगा के अंक में भी तुझे स्थान नहीं है–अग्नि तुझे जलायेगी नहीं–गंगा तुझे अपने अंक में सुलायेगी नहीं–फिर क्या करेगी तू ? कहाँ जायेगी? कौन है तेरा ?"–

"देवि–तुम कौन हो–पवित्र गंगा ने मुझे समाधि में प्रकट होकर दर्शन दिये हैं और तुम्हारी रक्षा का आदेश किया है–

चौंककर, पीछे की ओर घूम गयी जानकी–एक वृद्ध, श्वेत जटा–जूट धारी तापस–कौन हो सकते हैं ? तपस्या का दिव्य तेज, मणि सा प्रस्फटित होता सम्पूर्ण शरीर पर! ओह–महर्षि बाल्मीकि–माँ गंगा के आदेश पर तुझे लेने आये है–

"महर्षि–"जानकी का गला रूंध गया।

"तुम कौन हो देवि–मुझे तुम, मेरे महाकाव्य की, नायिका सी लगती हो–श्री राम–कथा महाकाव्य की नायिका सी–देवि–तुम कौन हो ? क्यों आत्महत्या करना चाहती थीं ?"

"महर्षि–मैं अभिशप्त नायिका ही हूँ–श्रीराम चन्द्र की परित्यक्ता–सीता–" जानकी फफक कर रो उठी–

"महासती, परम पवित्र, अग्नि–देव द्वारा पूजित जानकी का परित्याग मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र द्वारा क्यों ?"

"प्रजाजनों ने उनकी मर्यादा कों नहीं स्वीकारा है–राघवेन्द्र ने स्वयं को समाज पर थोपना भी नहीं चाहा है–"

"यह तो घनघोर अन्याय है ? क्या श्री राम भी........"

"महर्षि–आप उनके लिए कुछ न कहेंगे ? मैं सह न सकूँगी–ओह "जानकी मुँह ढाँप कर रो पड़ीं।

"क्षमा करें देवि–आवेश में अवश्य ही अनुचित कहने जा रहा था–श्री राम तो मेरे आराध्य हैं–आप आश्रम में पधारें–आप मेरी धर्मपुत्री बनकर आश्रम में रहें–आप मातृत्व को प्राप्त हैं–ऐसी अवस्था में आत्महत्या तो जघन्य अपराध है–श्रीरामचन्द्र की महान सन्तति से मानवता को वरद करने हेतु आपको जीना ही होगा।"

नारायण हरि !

मुनि वशिष्ठ का निर्णय

"गुरुदेव– रक्षा करो–राघवेन्द्र ने मुकुट और सिंहासन का परित्याग कर दिया है–अवधेश अश्वमेघ यज्ञ करते सरयु में समाने को आतुर हैं–"

लक्ष्मण जी वशिष्ठ मुनि के चरणों से लिपट कर बालकों की भाँति फूट–फूटकर रो पड़े–वशिष्ठ जी चौंक उठे–

"राघवेन्द्र !! ऐसा क्यों? क्या सीता के प्रति उनमें विरक्ति उत्पन्न–"

"गुरुदेव–जानंकी जी का उन्होंने परित्याग कर दिया। उनके आदेश से मैं माँ जानकी को बाल्मीकि ऋषि की कुटिया के समीप छोड़कर......."

"लक्ष्मण–"

जी गुरुदेव–राघवेन्द्र की मर्यादा को समाज के कुछ लोगों ने अस्वीकारा है–राघवेन्द्र ने स्वयं को समाज पर थोपना भी नहीं चाहा है। जानकी का परित्याग करने के उपरान्त वे भी स्वयं भी समाज से व्यक्त होकर–"

लक्ष्मण जी पूरी घटना वशिष्ठ जी को सुनाते है।।

"लक्ष्मण–अवधेश को रोकने की सामर्थ्य अब किसी में नहीं है–"

"गुरुदेव–भाई राम ने क्या सुख उठाया ? माँ सीता को क्या मिला–पहले चौदह वर्ष का वनवास–वनवासी तापस जीवन–लौटे तो जीवन का सुखद ठहराव केवल तीन वर्ष–पुनः परित्यक्त हुई निष्पाप पवित्र जानकी–राघवेन्द्र समाते सरयु में–यह तो घनघोर अन्याय है–"

"महान पुरुष, देवता और अवतार सांसारिक सुख के लिए नहीं प्रकट होते हैं।

लक्ष्मण–उनका जीवन संसार की पीड़ाओं को दूर करना; उन्हें सत्य की राह दिखाना; मर्यादाओं का प्रतिपादन करना और उन्हीं में लोप हो जाना मात्र ही होता है–राघवेन्द्र स्वयं नारायण का अवतार हैं–वे फलदान वृक्ष के समान हैं जिसे लोग जितने पत्थर मारते हैं पेड़ उन्हें उतने ही अधिक फल देता है। स्वयं खाता है पत्थरों की चोट असीम, असह्य पीड़ा–प्रत्युत्तर में पीड़ा देने वालों को देता है अपने ही तन से प्रकट, अपने ही अंग, रसदार मीठे फल–''

''गुरुदव–उन्हें कुछ काल के लिए ही रोकें। हम सब अनाथ हो जावेंगे–उनके बिना एक क्षण भी तो असह्य होगा–गुरुदेव–हम अभागों पर दया करें–''

''मैं प्रयत्न करूँगा ! भले ही ऐसा करना अनुचित ही हो। शीघ्र ही उनसे मिलने के लिए आ रहा हूँ!''

लक्ष्मण जी के जाने के कुछ ही काल उपरान्त ब्रह्मर्षि वशिष्ठ भी चल दिये। जब राघवेन्द्र महल के समीप पहुँचे तो बाहर अयोध्या के गणमान्य नागरिकों, विद्वानों, सभासदों को उदास सिर झुकाये बैठे देखा। वे सब राघवेन्द्र से अनुनय, विनय कर चुके हैं परन्तु राघवेन्द्र ने कुछ भी सुनने से इन्कार कर दिया है। राजमाताओं ने विनती की परन्तु वे अटल रहे ! कैकेई ने बहुत प्रकार से समझाना चाहा है परन्तु राघवेन्द्र नहीं माने हैं। राघवेन्द्र के अटल निर्णय की सूचना सारे प्रदेश में बिजली की तरह फैल गयी है। जिसने सुना है वहीं तड़प उठा है ! जानकी के परित्याग की बात सुनकर जनता स्तब्ध रह गई है ! जिसने वन के चौदह वर्ष, भय, आतंक, विछोह, पीड़ा और कांटों पर सो कर बिताये; बेचारी तीन वर्ष भी सुख के न जी पाई। परित्यक्ता हुई !! हा दैव !! क्या अनर्थ हो गया ! नारियाँ अचेत हैं। चेतना लौटती है तो करूण क्रन्दन में।

वरिष्ठ जी राघवेन्द्र को समझाते हैं परन्तु वे नहीं मानते हैं। राघवेन्द्र का कहना है कि वे अश्वमेघ यज्ञ के अधिकारी हैं। वे चौदह वर्ष का वनवास कर चुके हैं। उन्हें तत्क्षण यज्ञ की अनुमति मिलनी चाहिए। वशिष्ठ जी व्यवस्था देते हैं कि राजसूय यज्ञ के पूर्व का वनवास अमान्य है इसलिए तत्क्षण यज्ञ की अनुमति नहीं मिल सकती। अन्त में वशिष्ठ जी निर्णय देते हैं कि राघवेन्द्र राजसूय यज्ञ के उपरान्त ग्यारह वर्ष तक धर्म पूर्वक निमित्त होकर राज्य का संचालन करें। उसके उपरान्त वे अश्वमेघ यज्ञ के अधिकारी हैं।

।। नारायण हरि ।।

राजसूय यज्ञ

राजसूय यज्ञ धूमधाम से समापन हुआ है। "राज" अर्थात् ज्योति तथा "सूय" अर्थात् उत्पन्न करना। "राजसूय" यज्ञ वानप्रस्थ से पूर्व का संकल्प यज्ञ है। इतना वर्णन महाभारत में भी आया है। इस यज्ञ का अर्थ राजाओं का अधीन करना अथवा अपनी श्रेष्ठता की धाक जमाना (जैसा कि कालान्तर मे विद्वान अर्थ लगाते रहे हैं) कदापि नहीं था।

"राजसूय" अर्थ है। राजपाठ को मात्र निमित्त रूप से धारण करता मैं ज्योति को उत्पन्न करने वाली राह जा रहा हूँ। उसमें सभी राजाओं ऋषियों आदि को निमन्त्रण भेजने की प्रथा रही है। सभी राजाओं तथा प्रजाजनों के सम्मुख श्री रामचन्द्र ने तन के वस्त्राभूषण तक ब्राह्मणों को दान कर दिये हैं। जनता अश्रुपूर्ण नेत्रों से सब देख रही है। जिन्होंने वनवासी तापस जीवन चौदह वर्ष बिताया; वे पुनः ऐश्वर्य का त्यागकर वैराग्य को प्राप्त हो रहे हैं। प्रजाजन रो रहे हैं। वे उन लोगों को मन ही मन धिक्कार रहे हैं जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम की मर्यादा में सन्देह व्यक्त किया है। नगर की नारियाँ कह रही हैं कि वे महा अभागिन हैं। नारी मात्र के रक्षक तथा समाज में उन्हें सम्मानित एवं प्रतिष्ठित कराने वाले, राघवेन्द्र, आज जानकी का परित्याग कर, स्वयं भी समाज को विधिवत परित्यक्त करके जा रहे हैं। वे बिलख रही हैं। बारम्बार ऐसे समाज को धिक्कार रही हैं। प्रभु से प्रार्थना करती हैं कि प्रभु उन्हें भी धरती से उठा लें। इस समाज की घुटन और सड़ान्ध में वे एक क्षण भी नहीं जीना चाहती हैं।

राघवेन्द्र के शरीर पर, पीताम्बर, आचार्यो द्वारा ओढ़ाया जा रहा है। सारी प्रजा फूट–फूटकर रो पड़ी है। पीताम्बर वेशधारी श्री रामचन्द्र सभी ऋषियों को प्रणाम करते, सभी राजाओं का यथा अभिवादन करते गुरु वशिष्ठ के आश्रम में जा रहे हैं। राघवेन्द्र रनिवास, महल, ऐश्वर्य सब त्याग चले ! राज्य संचालन का भार श्री भरत जी पर लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न पर छोड़ दिया है। राजा राम वैरागी हो गये।

उन दिनों गृहस्थ से उपराम होकर प्रत्येक व्यक्ति राजसूय यज्ञ करता वानप्रस्थ धर्म को धारण करता था। राघवेन्द्र के वैराग्य से दुःखी होकर बहुत सी प्रजा भी समय–असमय राजसूय यज्ञ करती वनवास व्रत धारण कर गई है। सम्पूर्ण राज्य में कोहराम मच गया है।

भरत जी ने राज्य चिन्ह धारण करने से इन्कार कर दिया है। लक्ष्मण

और शत्रुघ्न की भांति वे भी पीड़ा को प्राप्त हैं। एकान्त पाते ही नेत्र बरस उठते हैं। सावन भादों की झड़ी लग जाती है।

श्री रामचन्द्र की प्रतिमा को उन्होंने मुकुट सहित सिंहासन पर बिठाया है। स्वयं उनके चरणों में ही बैठते राज्य को निमित्त होकर धारण करते तपस्या व्रती हैं।

राजसूय यज्ञ की सूचना देने जब लक्ष्मण जी मुनि बाल्मीकि की कुटिया पर गये थे तो रात्रि विश्राम वहीं किये थे। उसी रात्रि में जानकी पुत्र रत्न से वरद हुई थी। पुत्र प्रजनन के कष्ट के साथ ही श्री रामचन्द्र के वैराग्य हेतु राजसूय यज्ञ की सूचना से उन्हें कितनी पीड़ा हुई थी। उसकी कल्पना कौन कर सकता है। बार–बार अन्तः मन कराह उठता था। जानकी तेरे पुत्र का कैसा भाग्य है। बार–बार अन्तः मन कराह उठता था। जानकी तेरे पुत्र का कैसा भाग्य है कि पिता का स्पर्श सुख भी न पा सकेगा कभी ! आह ! राघवेन्द्र ! तुम अपने ही पुत्र को कभी प्यार न कर पाओगे! कभी गोद में लेकर न घूम पाओगे ! समाज की बलिवेदी पर मर्यादा के सहित तुम्हारे अबोध शिशु भी तो बलिदान हो गये, भोले अबोध निरपराध– फिर भी अपराधी से दण्डित ! रे समाज ! तेरा यही न्याय है।

मुनि वशिष्ठ के आश्रम में वैरागी श्री राम। योग वशिष्ठ सुनते ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से ! बाल्मीकि के आश्रम में परित्यक्ता जानकी ! पितु सुख से वंचित सन्तान को सीने में समेटे ! उदास ! हा ! राम !!

हरि ॐ नारायण हरि

अश्वमेध यज्ञ का स्वरूप

त्रेता युगीन ऐतिहासिक घटनाक्रम में संस्कृति की झलक के साथ, विशुद्ध आध्यात्मिक कथा निरन्तर आगे बढ़ती ऐतिहासिक क्रम के साथ ही समापन की ओर अग्रसर है।

मन ही दशरथ (दश+रथ) मन ही दशानन (दशों इन्द्रियाँ जब दस मुँह बनें) आत्मा श्री राम हैं, जो घट–घट वासी हैं। जैसे शबरी के झूठे बेर खाये थे; वैसे ही आत्मा होकर प्रत्येक जीव की झूठन को रक्त–मांस, शक्ति, तेज में लौटाते, प्रभु श्रीराम प्रत्येक शबरी के झूठे बेर खाते.........अब शबरी भूली राम को.........

जब मन दशरथ न बना ! वृत्तियाँ दशानन हुई ! बुद्धि (प्रकृति) स्वयं मृग की वासनात्मक लिप्साओं में फँस बैठी। आत्मा श्री राम चल दिये ढूंढ़ने स्वर्णमृग ! आत्मा से छूटी देह, निर्जीव होकर आंगन में पड़ी थी। पाँव हुये दक्षिण ! चल दी लंका (शमशान घाट) दशानन रावण के देश ! मन दशानन, बनाकर अर्थी, बाँध रस्सियों से, रथों (कन्धों) पर आरुढ़, उड़ाये लिए जा रहे दक्षिण ! लंका ! सागर के उस पार ! घट फूट गये ! मारे गये जटायु ! लंका (शमशान घाट) पहुँची है अर्थी ! घेरकर बैठ गई हैं राक्षसियाँ, प्रतनी और त्रिजटा (त्रिगुणात्मक वासनायें)! ठहाके लगता मन दशानन ! आत्मा से छुड़ा लाया प्रकृति को ! धरती की बेटी (देह) को ! भयभीत कांपती सीता ! आत्मा रूपी श्री राम को पुकारती ! तड़पती ! सरयु (संस्कृति में सरयु का अर्थ वायु मण्डल तथा प्राण वायु भी है। देखें संस्कृत कौस्तुभ) के तट छूट गये ! पार कर बैठी लक्ष्मण रेखा ! लक्ष्मण रेखा ! मर्यादा रेखा? तभी तो ले उड़ा रावण ! लक्ष्मण रेखा ! अदृश्य शाश्वत रेखा ! इस पार राज्य आत्मा श्री राम का है। वे जीवन हैं ! उस पार राज्य रावण का है जो ठन्डी अन्धेरी मौत है ! मर्यादा लक्ष्मण रेखा की है ! पार हुई रेखा ! छूट गये सब मित्र स्वजन सारे ! आये हैं अर्थी (शव) के संग ! फिर भी कितने दूर! उनकी सान्तवना आज अर्थी तक नहीं पहुँच सकती ! इसका भय, आतंक उन तक नहीं पहुँच सकता ! मर्यादा रेखा की है।

चिता की लकड़ियों पर आत्मा (श्रीराम) की विरह में, जली, भस्मी हुई धरती की बेटी यह देह हमारी ! भस्मी ने पानी का संग किया ! जंगलों की अशोक वाटिकाओं में भटक चली ! पुकारती हा राम ! हा राम !!

प्रत्येक पेड़ पौधों में व्याप्त आत्मा रूपी श्री राम प्रकट हो गये ! पराजित हुई मृत्यु (रावण) ! भस्मी ने पानी का संग किया ! खाद बनी ! पेड़ों की जड़ों ने ग्रहण किया ! आत्मा ज्वालाओं में यज्ञ हो पुनः अग्नि–परीक्षा द्वारा फल बनी ! एक सीता ! अनेक अग्नि–परीक्षा !

"इन्द्रायाहि चित्र भानो सुता हमे त्वायवा !
अणविभिस्तनाः पूतासा !"

(ऋग्वेद) १/३/४

सूर्य की पुत्री धरा ने, जब तेरा आवाहन किया, हे महान यज्ञ की ज्वाला ! पेड़ों के गर्भ में जब प्रज्जवलित हुई तू ! मेरे तन का कण–कण, तेरी रश्मियों मे पवित्र होने लगा। तेरी कृपा से भटकती देह (मृत्यु रूपी रावण से अभिशप्त) के भस्मी कण पुनः अन्न में लौट चले !

"इन्द्रायाहि तुतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।
सुते दधिष्वा नशचना।।"

(ऋग्वेद १/३/६)

उसी अन्न को जब एक दम्पत्ति ने ग्रहण किया तो पुनः तुझमें ही यज्ञ हो, शिशु का रूप धारण करता अन्न, बन (शिशु गर्भ रूपी) क्षीर सागर से बाहर चल दिया। अग्नि–परीक्षा ! अग्नि–परीक्षा !!

जीवन........................जड़ता........................विनाश

आत्मा........................प्रकृति...........................माया

जड़ प्रकृति जब आत्मा का स्पर्श पाती हैं तो जीवन्त बालक का स्वरूप ग्रहण करती है। आत्मा के विपरीत वासनात्मक जगत में भटकने लगती है तो पुनः आत्मा से त्यक्त हो भस्मी का अम्बार बनती है! आवागमन!

सीता (प्रकृति) धरती में समाती हैं तथा आत्मा सरयू (अनन्त वायुमण्डल) में विलीन हो जाते हैं ! पुनः प्रकृति लव और कुश (लौ अन्न की बालियां और कुशा में) पुत्रवती अर्थात् प्रकट होती हैं ! निरन्तर कथा ! अहर्निश कथा ! सर्वत्र!

वैष्णव और स्मार्त मनाते नवरात्र! प्रत्येक दिन सामिग्री के साथ जलाते विषयी मन दशानन की प्रत्येक इन्द्रिय की वासना के अभिशाप ! दसवें दिन मनाते दशहरा ! हमने मन दशानन को "हरा" (जीतना) ! जलाओ पुतला विषयान्ध मन ! बनो दशरथ हे राम ! राम !! राम !!

फिर आती है अमावस की काली अन्धे रात.........कालिमा ढूँढती अपने कलुषित बेटे दशानन रावण को ! भक्त मनाते दीपावली ! हर ओर दीप जलाओ.........आत्म–ज्योतियों की विजय हुई है.........श्रीराम जीते हैं......... जीवन ने मृत्यु पर विजय पाई है। भीतर–बहार, हर ओर, जगमग दीप जलाओ.........उदास है कालिमा.........मुस्कराते दीपक.........खिलखिलाती फुलझड़ियाँ और अनार–अट्ठहास करते पटाखे.........गगन में उठते अग्नि बाण.........गाते जय–जय राम श्री राजा राम !!!

आओ मित्र–दशहरे के रावण के सामने खड़े हों–पूछो स्वयं से कहीं अपना ही पुतला तो नहीं जला रहे हो ? दस इन्द्रियों को यदि दस मुँह बना बैठे हो तो यह रावण का पुतला तुम्हारा भी तो प्रतीक है। हनुमान जलायेंगे तुम्हारे जीवन रूपी लंका को–तुम जलोगे–नित्य–ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, लोभ, अभाव, दुःख, चिन्ता की अग्नियों में–फिर एक दिन, चिता की लकड़ियों

पर, दशहरे के रावण से धू–धू कर.........

यदि इस इन्द्रियों को रथ (लगाम लगाना, निग्रह करना) दशरथ बने हो तो देह हुई है "अवध–दशरथ अवध के राजा हैं–'अवध' अर्थात् जिसका कोई 'वध' न कर सके।

"जहाँ राम तहाँ अवध निवासू।"

जहाँ आत्मा रूपी श्री राम हैं वहीं अवध अर्थात् मृत्यु नहीं है–जहाँ आत्मा रूपी श्री राम हटे तहाँ अयोध्या भी समाप्त–आत्मा के हटते ही मृत्यु रूपी रावण के पंजे में, यह देह रूपी धरती की बेटी है। एक ठन्डी अन्धेरी रात है! मौत !!

अश्वमेघ यज्ञ की तैयारी

अश्वमेघ यज्ञ की तैयारियाँ शुरू हो गयी हैं। अश्वमेघ यज्ञ (अ रहितः श्व अतीत, कल, मृतः ! मेघ प्रवेश करना, व्याप्त होना) का अर्थ है अतीत अर्थात् मृत्यु से रहित अर्थात् नित्य सत्य रूपी आत्मा में प्रवेश करना। व्याप्त होना, आत्माद्वैत करना। वानप्रस्थ, फिर एक वर्ष का अज्ञातवास तब अश्वमेघ यज्ञ करता सरयु में वास। आदि काल से चली आ रही परम्परायें–भारतवासियों की संस्कृति–जिसने जीवन को यज्ञ माना–जीवन्त पाठशाला की संज्ञा दी। गुरुकुल का भोला ब्रह्मचर्य, युवावस्था का मादक गृहस्थ समर्पित सेवाओं का वानप्रस्थ, स्वयं को तौलने का, अपना सत्य स्वयं खोजने का अज्ञातवास; फिर अश्वमेघ यज्ञ, लहरों में वास ! अतीत जीवन की इति श्री–लहरों के उस पार प्रकट होता एक अग्निवेश–सन्यासी।

जब भी राजा (कोई भी, गृहस्थ) राजसूय यज्ञ करता था। उसके उपरान्त राजपाट आदि से विरक्त होकर वैराग्य का पीताम्बर धारी होता था। युवराज निमित्त होकर मन्त्रियों सहित राज्य संचालन करते थे। राजा स्वयं को अन्तिम सत्य में व्याप्त करने के लिए धर्म गुरू, सन्त, सन्यासी, ऋषि सद्ग्रन्थों की सरस्वती को समर्पित हो जाता था।

युवराज के अभाव में श्री रामचन्द्र जी अपने अनुज, भरत जी को युवराज घोषित करना चाहते थे। परन्तु भरत जी नहीं माने श्री रामचन्द्र जी

की प्रतिमा सिंहासन पर विराज कर, निमित्त भाव राज्य भार सम्भालते हैं।

बारह वर्षों के वानप्रस्थ का विधान क्यों ? इसलिए जिस भी कर्म का आप आचरण से त्याग करते हैं उसे मन, विचार; चिन्तन, विचार और संस्कार से नहीं मिटा, आप उससे त्यक्त कहाँ हुये ?

दूसरा कारण है, मन के साथ शरीर को बदलने में इतना समय लग ही जाता है। अब आप नियम-संयम तपस्या का जीवन धारण करते हैं। शरीर स्वतः निरोग होता, निरोग मन का साथ देता पुनः नवीन हो उठता है। स्वस्थ शरीर और मन, ईश्वर प्राप्ति को समर्थ है।

तीसरा कारण है कि बिना समर्पित सेवा के तन का ऋण ही नहीं उतर पाया। वानप्रस्थ धर्म प्राणी मात्र को समर्पित निष्काम, निमित्त, सेवा है।

एक वर्ष का अज्ञातवास स्वयं को जानने का है। परखने का है। क्योंकि इसके उपरान्त सारा खेल अग्नियों का है। ईश्वर को जानना ज्ञान का विषय है। ईश्वर के लिए ही, अन्तिम रूप से समर्पित हो जाना; एक ही ब्रह्म में स्थित होना तपस्वी की उपलब्धि है।

प्रत्येक ओर सूचना एवं निमन्त्रण जा रहे हैं। सन्त, ऋषि मुनि, सन्यासी, तापस, राजा सबको सूचना जा रही है। तपस्वियों को कृपा पूर्वक आदेश एवं आशीर्वाद के लिए निमन्त्रित करने की प्रथा सर्वमान्य प्रथा रही है।

सभी राजाओं को भी सूचना भेजने का जो भाव था। महाराज ! मैं चक्रवर्ती साम्राज्य (सन्यास) को प्राप्त होने जा रहा हूँ। अश्वमेघ यज्ञ की तैयारियाँ आरम्भ हो चुकी हैं। आप कृपा पूर्वक साधुवाद हेतु पधारें। सम्भव है अतीत में राजा होकर हम आपस में युद्ध लड़े हों। सम्भव है आपके मन में मेरे प्रति कोई इच्छा, भाव, प्रतिशोध का संकल्प रहा हो। यदि ऐसा है तो आप पधारें। यज्ञ के उपरान्त आप मुझसे बदला न ले पावेंगे-मुझे मारकर भी न मार पावेंगे ! स्वयं मर जावेंगे-क्यों ? इसलिए; यज्ञ के उपरान्त मैं सन्यासी हूँ-चक्रवर्ती सम्राट हूँ-सब में एक ब्रह्म देखूँगा-हत्यारे में भी ब्रह्म ही देखूँगा-उस अवस्था में आप प्रतिशोध न ले पावेंगे।''

अश्वमेघ यज्ञ के घोड़े की परिक्रमा का पथ नियत कर दिया जाता था। सभी राजा अपनी सेना सहित आकर परिक्रमा पथ के समीप शिविर लगाते थे। जैसे कि आपने प्रयाग में कुम्भ के मेले में देखा है। सन्यासी, तापस, नगर में राजमहल के समीप ही ठहराये जाते थे। अन्य राज्यों के

राजा नगर से दूर ही शिविर लगाते थे।

पर्णकुटी से दण्डधारी महाराज, पीत वस्त्र का परित्याग कर पुनः राजसी वस्त्र धारण करता अपने रंग महल (जहाँ रानियाँ रहती हैं) में प्रवेश पाता था रानियो को परम् ब्रह्म का उपदेश करता, उनसे सन्यास हेतु अनुमति की प्रार्थना करता पुनः बाहर निकलता था और अतीत के प्रतीक दण्ड को अश्व पर स्थापित कर देता था। रानियाँ अश्व के सामने बिछ जाती थीं। वे जानती थीं अश्व के जाने का अर्थ? कल उनका वैधव्य होगा।

अश्व को लेकर महाराज रंगमहल के द्वार पर आते थे तो युवराज तथा अन्य राजकुमार उसको रोकने का प्रयास करते थे। क्योंकि वे जानते थे अश्व के आगे बढ़ने का अर्थ है; कल के पितु विहीन होंगे ! महाराज उन्हें उपदेश करते अश्व सहित सभा भवन में प्रवेश पाते थे। मन्त्री सदस्य रुकने की प्रार्थना करते थे परन्तु अश्व लिए महाराज सिंह द्वार की ओर बढ़ते चले जाते थे। द्वार पर सन्यासी, ऋषि–मुनि, तापस उनका रास्ता रोककर खड़े हो जाते थे। वे कहते थे, महाराज पहले हमारे प्रश्नों का उत्तर दो। हम जानना चाहते हैं तुम इस यज्ञ के अधिकारी हो ? वे नाना, वेद, वेदांग, आत्मा, सृष्टि आदि के प्रश्न पूछते थे। महाराज उनका समुचित उत्तर देते थे। तब सन्यासी पुष्प वर्षा करते, साधुवाद देते मार्ग से हट जाते। अश्व द्वार को पार कर जाता।

सेनापति अश्व की डोर थाम लेता और महाराज पुनः पर्णकुटी को लौट जाते। अश्वमेघ यज्ञ का अश्व दण्ड, छत्र, धारण किये, नगर की ओर बढ़ने लगता। नगरवासी, प्रजाजन पुष्पवर्षा करते जाते। सेनापति अपने अश्व पर बैठे उसके साथ–साथ उसकी लगाम थामे चलते थे। अश्व बढ़ता जाता नगर की सीमा से बाहर हो जाता। सेनापति के साथ सेना की टुकड़ी तथा घनिष्ठ मित्र, राजा, अपनी थोड़ी सेना के साथ अश्व के साथ अपने घोड़े दौड़ाने लगते। अश्वरोहियों का दल निरन्तर संख्या में बढ़ता जाता। जिस राजा के शिविर के पास से दल गुजरता वह राजा भी अपने थोड़ी अश्वारोही सेना सहित उनके साथ हो जाते।

तभी एक शिविर के पास से जैसे ही अश्व निकलता; उस शिविर के राजा उसे थाम लेते ? सब रुक जाते ! ऐसा क्यों हुआ ? देखा ! अरे ? इस राजा ने तो मृत्यु–तिलक ले रखा है। सब उसको समझाते कि अब इस भावना को त्याग ! अब तक कहाँ सो रहा था ? अब तो वह मात्र सन्यासी

है। यदि राजा मान जाते हैं तो मृत्यु तिलक पोंछ दिया जाता अन्यथा राजा को बाकी राजा ललकार कर मार देते। अश्व आगे बढ़ जाता। ऐसा सदा नहीं होता था। क्योंकि द्वेषी राजा यज्ञ में सम्मिलित होने आते ही नहीं थे। अश्व घोषित परिधि में ही दौड़ाया जाता था। यह यात्रा सूर्यास्त के उपरान्त तक राजमहल के पिछवाड़े तक अवश्य पहुँच जाती थी।

सेनापति अकेले गुप्त द्वार से महल में प्रवेश पाते। रानियों के सभा भवन में (मृत देह) दण्ड को दोनों बाहों पर लिटाये रानियों के सम्मुख घुटने के बल बैठकर प्रार्थना करते :–

रानियाँ दण्ड रूपी मृत देह को ग्रहण करती और सेनापति उल्टे पाँव लौट जाते। प्रातः रानियाँ राजकुमारों सहित शव (दण्ड) को लिए यज्ञशाला में पधारतीं। युवराज दाह संस्कार की पूर्ण विधि सम्पन्न कराते थे। श्वेत वस्त्र (समर्पण) में लिपटे महाराज को, आचार्य आदेश करते कि वे अनुभूत करें कि वे स्वयं चिता पर जल रहे हैं। उनका सम्पूर्ण अतीत, उपलब्धियाँ, स्मृतियाँ जलकर शेष हो रही है।

जैसे कोई व्यक्ति मर जाता है उसकी चिता जलती है। उपरान्त उसकी भस्मी नदी जल में प्रवाहित होती है। उसी प्रकार अतीत के महाराज (जिन्होंने अपना सम्पूर्ण अतीत चिता में जला दिया है) श्वेत वस्त्र में लिपटे (बन भस्मी स्वयं) सरयु (जो भी नदी) में प्रवेश पाते हैं। आचार्य उनके श्वेत वस्त्र को पकड़ लेते हैं। शिखा एवं सूत्र विहीन महाराज (वस्त्र से अलग होते) निर्वस्त्र जल की धाराओं में समा जाते हैं। आचार्य श्वेत वस्त्र को, जो शेष रहता है रानियों को प्रदान करते हैं जिसे वे वैधव्य के रूप में ग्रहण करती हैं। उसी श्वेत वस्त्र को धारण करती वे धरती में समाती हैं। किले में ही खोदी गयी गुफा में तपस्या हेतु प्रवेश कर जाती हैं।

।। नारायण हरि।।

लव–कुश

वीरान रंग महल में श्री रामचन्द्र ने प्रवेश किया है ! कौन रोकेगा उन्हें? जानकी ! वह तो परित्यक्ता है ! कुछ देर मौन खड़े रहने के उपरान्त राघवेन्द्र चल दिये हैं। मानो मौन, मन ही मन जानकी से अनुमति मांगी हो।

द्वार पर युवराज भी तो नहीं हैं ! बिलखते भाई है ! रोकने का भी; किसमें साहस शेष है ? सब निष्प्राण से स्तब्ध मूक अश्रु बहाये जाते हैं ! हा !! अयोध्या से राजा राम जाते हैं।

मौन, निर्विकार, नीलाभ मणियों के प्रकाश से युक्त, श्री रामचन्द्र सभागृह को पार करते अश्व सहित द्वार पर आते हैं। ऋषि, मुनि, तापस सभी को प्रणाम करते, सभी को विनम्र सहज सन्तुष्ट करते वे आगे बढ़ते हैं। लक्ष्मण जी अश्व की डोरी थाम लेते हैं। रामचन्द्र यज्ञ शाला की ओर बढ़ जाते हैं।

अयोध्या दुलहिन सी सजी है। परन्तु इस साज–सज्जा में क्या असह्य पीड़ा भी छिपी नहीं है। सुन्दर वस्त्राभूषण से सजी प्रजा, बिलखती, तड़पती अश्व का स्वागत करती है। हाथ अश्व पर पुष्प वर्षा करते हैं। नेत्र साव भादों से मूसलाधार बरसते हैं ! अचेत होकर सड़कों पर बिछती प्रजा! अश्व नगर के बाहर हो गया है। सेना की छोटी सी टुकड़ी साथ में है। सभी राजा के साथ अश्व दौड़ाने लगे हैं ! तभी !

दो किशोर बालकों ने आगे बढ़कर अश्व को रोक लिया है ! उनके माथे पर मृत्यु तिलक हैं। लक्ष्मण जी स्तब्ध उन सुन्दर बालकों को देख रहे हैं ! भोले सुन्दर, ज्योर्तिमय, मोहक मुखड़े ! विशाल निर्मल नेत्र; गठा हुआ शरीर ! भाल पर मृत्यु–तिलक ? सारे राजा और सैनिक अश्वारोही स्तब्ध है। भला बालकों का श्री राम के प्रति प्रतिशोध कैसा ?

"पूज्य चरण ! हम दोनों भाई आपको प्रणाम करते हैं। हमारे नाम 'लव' और 'कुश' है। हमारी माता जनक सुता जी हैं। अश्वमेघ यज्ञ के अश्व को हम नहीं छोड़ेंगे। पहले आप हमें न्याय दें। हमारे पिता राघवेन्द्र अश्वमेघ यज्ञ के अधिकारी कैसे हो गये ? उन्हें सन्यास का अधिकार दिया किसने ? उन्होंने हमारे प्रति किस धर्म को धारण किया ? हमारी माता जानकी के प्रति क्या उन्होंने उचित धर्म का निर्वाह किया ? आप हमें न्याय दिये बिना अश्व न ले जा पावेंगे। आप चाहें तो हम निरीह बालकों का वध करके इस अश्व को ले जावें। अन्यथा भी तो इस अश्व के जाने का तात्पर्य पिता सुख से वंचित होना है! हमारा वध ही तो है !"

लक्ष्मण जी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित है। शरीर शिथिल होने लगा है। असह्य पीड़ा के आवेग को रोक सकने में असमर्थ लक्ष्मण जी मूर्छित होकर गिर पड़े हैं। शीघ्रता से राजा अश्वों से उतर उन्हें उठाने का प्रयास करते हैं। लक्ष्मण जी गहन मूर्छा को प्राप्त हो चुके हैं। सभी अश्वारोहियों के चेहरे इस हृदय विदारक दृश्य से भीग चुके हैं। गहन मूर्छा

ने लक्ष्मण जी के मुख को निस्तेज सा बना दिया है।

शीघ्र सूचना भरत जी को पहुँचाई गयी है। शीघ्र ही भरत एवं शत्रुघ्न जी वहाँ पहुँचे हैं। बालकों को देखकर वे भी रो पड़े हैं। धीरे–धीरे लक्ष्मण जी सुधि को प्राप्त हो रहे हैं। 'लव' 'कुश' लक्ष्मण जी को मूर्छा से अत्यन्त दुःखी हैं सीपी की सी भोली प्यारी आँखों से आँसुओं की लड़ियाँ तो बरस रही हैं परन्तु अश्व छोड़ने को कतई तैयार नहीं है। सूचना श्री राम तक पहुँचाई गई है। दोनों बालकों के सम्मुख सभी पराजित हैं। उन्हें न्याय मिलना चाहिए ! इसे कौन नहीं चाहता ! काश ! यह बालक ही रोक पाते श्रीराम को ! काश !! अवध को पुनः राजा राम मिलते।

जब महर्षि बाल्मीकि को अश्वमेघ यज्ञ की सूचना मिली तो जानकी को बिना बताये वे 'लव' और 'कुश' को लेकर परिक्रमा पथ पर आ गये। उन्होंने ही दोनों बच्चों को सारा रहस्य बताकर अश्व पकड़ने को कहा था। जानकी जी को इसलिए नहीं बताया था कि वे ऐसा कदापि न होने देतीं। बाद में जब उनको पता चला कि महर्षि दोनों बच्चों को लेकर परिक्रमा पथ पर गये हैं तो वे अधीर हो उठीं और उनको ढूँढ़ती पीछे चल दीं।

जैसे ही राघवेन्द्र वहाँ पहुँचे। उनकी दृष्टि दोनों बच्चों पर पड़ी। क्या श्री राम जान गये कि वे अपने ही..........। निर्विकार भाव उनका अविचलित रहा। गम्भीर वाणी में उन्होंने दोनों बालकों से अश्व को छोड़ देने को कहा। उन्हें सम्मुख पाकर दोनों बालक स्तब्ध हो गये ! न कुछ कह पाये! बस एक टक उन्हें देखते ही रह गये। उनके हाथ शिथिल होने लगे। पेड़ की ओट से महर्षि बाल्मीकि सब देख रहे थे। उन्हें लगा बालक अश्व को छोड़ देंगे। वे शीघ्रता से बाहर आये।

"श्री रामचन्द्र ! ये दोनों बालक तुमसे न्याय की भीख चाहते हैं।"

"प्रणाम करता हूँ गुरुदेव ! आप बतायें इन बालकों के साथ क्या अन्याय हुआ है ?"

"इन्हें पितृ सुख से क्यों वंचित किया गया ? इनका अपराध ?"

"इसका उत्तर वे लोग ही दे सकते हैं गुरुदेव ! जिन्होंने इन्हें पितृ सुख से वंचित किया है।"

"पितृ सुख से वंचित करने वाले स्वयं रामचन्द्र हैं ! इन्हें न्याय दो !"

"इन्हें पितृ सुख से वंचित करने वाले मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम नही हैं। उन्होंने कभी किसी के साथ अन्याय नहीं किया।"

सब ने चौंककर देखा ! सामने जानकी खड़ी थीं।

''महामुनि ! आपको उचित नहीं था कि आप अश्व को बालकों से पकड़वाते !'' जानकी जी कहती गई, ''ऐसे समय में जब वे राजसूय यज्ञ के उपरान्त वानप्रस्थ तथा अज्ञातवास को धर्म पूर्वक धारण कर अश्वमेघ यज्ञ को पूर्ण करने जा रहे थे। जिन पुलों को राघवेन्द्र पार करने के उपरान्त जला चुके हैं क्या वे अब लौट सकते हैं? आप स्वयं सन्यासी हैं ! पुनः जिस न्याय की बात आप राघवेन्द्र से कहते है। उसका उत्तर तो समाज को देना है। असुर द्वारा अपहृत और समाज द्वारा अपमानित, अपवित्र, त्यक्ता के पुत्रों को न्याय कैसा ? महान् रघुनन्दन ने समाज के आदेश का पालन किया है। न्याय की चर्चा का औचित्य क्या ?''

सब मौन स्तब्ध खड़े हैं। नेत्रों से पीड़ा बह रही है। एक राम हैं जो निर्विकार हैं। जानकी जी आवेश में कहती जा रही हैं, ''लव ! कुश ! अश्व को श्रद्धा पूर्वक छोड़ दो। भारत कुल श्रेष्ठ; रघुनन्दन, मर्यादा पुरुषोत्तम, करूणा के सागर महा तपस्वी के चरणों में भक्ति पूर्वक प्रणाम करो ! जिन्होंने अपने सभी सुखों का मर्यादा हेतु बलिदान दिया है, उनकी चरण धूल माथ धरो ! हे रघुनन्दन ! यह बालक आपके चरणों में नतमस्तक हैं। आप इनके अपराध को क्षमा करें। यह दासी आपके चरणों में है। इसका प्रणाम स्वीकार करें।'' जानकी जी धरती से लेटकर प्रणाम करती हैं।

''जानकी ! मेरे कारण आपको कितने असह्य कष्ट हुये। परन्तु आपने सदा दोष स्वयं को दिया ! स्वर्ग मृग मैंने मांगा ! लक्ष्मण को अपशब्द कहकर मैंने आपके पीछे भेजा। परन्तु आपने और निष्पाप लक्ष्मण ने सदा स्वयं को ही दोषी कहा ! एक बार भी तो मुझे दोष न दिया। उत्तर में मैं अभागिन आपको क्या दे पाई ? लोकनिन्दा ! अपयश ! जिसे राघवेन्द्र की फूलों की शैय्या होना था वह सदा कांटों की सेज बनी। कांटों पर सोकर भी आपने कभी दोष न दिया ! स्वामी !! आप कितने महान हैं !'' जानकी जी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हैं।

''जानकी !!''

''स्वामी ! महान कुल की मर्यादा के अनुरूप यज्ञ को अग्रसर हों ! प्रभु! आशीर्वाद दें, विचार बस आप में; एकी भाव से स्थित हो। हर क्षण आप में ध्यानस्थ रहूँ ! शरीर धरती में समाया तपस्यालीन हो ! मन से आपके चरण निरन्तर धोती रहूँ।''

।। नारायण हरि।।

सरयु–प्रवेश

"ऊँ ! लोमभ्यः स्वाहा ! ऊँ स्वचे स्वाहा ! ऊँ लोहिताय स्वाहा...... मेदोभ्यः स्वाहा.....मासेभ्यः स्वाहा......स्नायुभ्यः स्वाहा......अस्थिभ्यः स्वाहा...."

हे राम ! तुम जल रहे हो ! रोम जल रहे हैं ! त्वचा जल रही है ! मेदा, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा सब कुछ जल रहा है ! सर्वांग अग्नियों में शेष हो रहे हो तुम ! हे राम ! अपनी सम्पूर्ण उपलब्धियों सहित शेष हो तुम! सम्पूर्ण अतीत जलकर भस्म हो रहा है। मित्र, स्वजन, अपना पराया सब विचार शेष हो रहा है ! यह तुम्हारा अन्तकाल है !

सारी प्रजा तड़प रही है। बिलख रही है। सभी उस महा–मानव के दर्शन को व्याकुल है आह ! फिर कहाँ देख पावेंगे उसको ! प्रत्येक हृदय व्याकुल तड़प रहा है ! कराह रहा है। मौन पुकारता, "हे मर्यादा पुरुषोत्तम ! हम तुम्हारी मर्यादा को स्वीकारते हैं ! तुम नहीं जाओ ! नहीं जाओ ! नहीं जाओ ! हे राम ! तुम्ही से अवध है–बिन तुम्हारे हमारा जीवन निस्सार है–व्यर्थ है–आह ! अब क्या हो सकता है ! समय तो निकल गया है–अब कुछ नहीं हो सकता–काश ! हम अपने प्यारे श्री राम को रोक पाते।

वे विद्वान शास्त्री, जिन्होंने श्री राम की मर्यादा में सन्देह किया था; अपराधी से सिर झुकाये खड़े हैं। बाल्मीकि के संग लव–कुश को लेकर खड़ी तापस जानकी पर दृष्टि पड़ती है तो वे फूट–फूट कर रो उठते हैं। कल की साम्राज्ञी। श्री रामचन्द्र की प्राण बल्लभा ! आज मात्रं एक तपस्विनी, परित्यक्ता साधारण जन समूह में श्री राम के अन्तिम दर्शन को आतुर–कौन सहन कर पावेगा इस करुण दृश्य को–भोले सुन्दर सुकुमार बालक जो युवराज से सजे होने चाहिए थे। साधारण सूक्ष्म मात्र वस्त्र से तन ढके समाज से व्यक्त, अपमानित–समाज द्वारा घोषित अपराधी–रे समाज–बता, उनका अपराध क्या ? श्री राम बल्लभा मात्र एक भिखारिन सी–उसके तेजस्वी पुत्र........ओह !

साधारण प्रजा की भीड़ में खड़ी आतुर, व्याकुल, प्रभु के दर्शन की प्यासी जानकी ! उदास, मोहक, सन्तप्त, भोले लव और कुश ! कितने खामोश !! आचार्यों की वाणी बाहर कानों में पड़ रही है।

"ऊँ ! लोमभ्यः स्वाहा !"

जनता का करूण क्रन्दन ! नारियाँ अचेत हैं। महामानव अन्तिम यात्रा को चल दिया है। जानकी सर्वांग सिहर उठी हैं। भोली उदास डबडबाई आँखों से बालक अपनी माता को देखते ! कितनी मर्मान्तक पीड़ा है ! अन्तिम यात्रा पर पिता जा रहे हैं जिनका स्पर्श भी अभागे पुत्र न पा सके हैं। उपेक्षित, व्यत्त चिता की अग्नि देने के अधिकार से विहीन ! मात्र मूक दर्शक! साधारण भीड़ में खड़े हुये !

श्वेत वस्त्र में लिपटे नीलाभ–मणियों की सी सुन्दर कान्ति के स्वामी श्री रामचन्द्र बाहर आये हैं। कोहराम मच गया है। पुष्पों से, सरयु में तिरोहित होने चल दिये हैं। आंसुओं से भीगी, बरसती, असंख्यों आंखें, उनके अन्तिम दर्शन को उन पर स्थिर हो गई हैं। जा रहे हो महामानव ! अन्तिम यात्रा पर ! वीर पुरुष ! तुमने स्वयं को समाज पर नहीं थोपा परन्तु असत्य, अन्याय के सम्मुख झुके भी नहीं ! समाज ने तुम्हारी मर्यादा नहीं स्वीकारी ! तुमने समाज के निर्णय को शिरोधार्य किया और अपनी महान मर्यादाओं के साथ समाज को त्याग चले ! हे राम ! फिर कभी होगा कोई ऐसा राम !

नेत्र स्थिर हैं ! देखकर भी मात्र एक ब्रह्म को देखते हुए ! एको ब्रह्म........आचार्यों से घिरे वे निरन्तर सरयु के तट की ओर बढ़ते जा रहे हैं। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न ! बच्चों की तरह फूट–फूट कर रो रहे हैं। कितने अचेत होकर गिर पड़े हैं। भीड़ में से जानकी ने, पुत्रों सहित दण्डवत् प्रणाम किया है। नारी मात्र की पीड़ाओं को जानने वाला फिर कभी ऐसा होगा कोई ?

श्वेत वस्त्र से लिपटी देह जल की धाराओं में प्रवेश कर गई है। आचार्यों ने, निरन्तर वेद मन्त्रों का उच्चारण करते हुये, श्वेत वस्त्र को थाम लिया है। वस्त्र खुलने लगा हैं। निर्वस्त्र देह जल की धाराओं में समा गई है। श्री राम सरयु समाते हैं। भक्त मात्र के प्राण ! श्री राम जल की धाराओं में विलीन हो जाते हैं।

आचार्य वस्त्र लेकर लौट रहे हैं। वे श्री भरत जी के सम्मुख वस्त्र लेकर खड़े हैं। मानों पूछ रहे हों इस वस्त्र को लेगा कौन ? क्या जानकी,

परित्यक्ता ? पीड़ायें जन हृदयों को विदीर्ण कर गई हैं। करुण विलाप के अतिरिक्त कुछ सुनाई नहीं देता है।

"भैया ! मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम हमसे विदा हो गये ! अब आप निर्णय दें ?" लक्ष्मण जी कहते हैं ! श्री भरत चौंकते हैं ! आचार्यों के हाथ मे पकड़े वस्त्र को देखते हैं। भीड़ में खड़ी जानकी की ओर लपकते हैं।

"माँ ! आप आगे बढ़ें ! वस्त्र ग्रहण करें !"

श्री भरत उनसे कहते हैं उनके नेत्रों से अविरल जल की धारायें प्रवाहित हैं।

"मैं–क्या कहा ? क्या एक परित्यक्ता.........."

जानकी जी मूर्छित होकर गिर पड़ी हैं। विलाप और चीखों से वातावरण द्रवित हो रहा है। भरत जी शीघ्र उन पर झुकते हैं। लक्ष्मण जी एवं शत्रुघ्न उनके साथ हैं। जल के छीटे दे रहे हैं। लक्ष्मण जी जानकी जी के पाँव मल रहे हैं। धीरे–धीरे माँ जानकी को सुधि होती है।

माँ ! अब तो आप ऐसा न ही कहें ! श्री राम द्वारा हम सब ही तो परित्यक्त हो गये–अब आप हम अभागों के सिर पर हाथ रखें ! हमारे पापों को क्षमा करें ! आपसे भी परित्यक्त होकर हम एक क्षण भी न जी पावेंगे ! हा ! राम हमें त्याग गये ! माँ ! आप दया करें !"

भरत जी फूट–फूट कर रो रहे हैं। कौन है जो स्थिर है ? न कोई! वे सारे शास्त्री और विद्वान जानकी के सम्मुख दण्डवत भूमि पर पड़े हैं। मानों कह रहे हों–मर्यादा पुरुषोत्तम ही सत्य थे ! हमारे अपराध क्षमा करो, माँ !

जानकी जी भयभीत हैं। वे आचार्यों की ओर देखती हैं। मानो पूछ रही हों कि क्या एक परित्यक्ता वस्त्र ग्रहण करने की अधिकारिणी है। भय, विषाद, संकोच और अनिर्णय का मिला भाव उनके मुख मण्डल पर स्पष्ट है।

"माँ ! आप ही वस्त्र ग्रहण करने की अधिकारिणी हैं। वेद एवं शास्त्रों का यही मत है।" वे कहते हैं।

जानकी जी वस्त्र ग्रहण करती हैं। उर्मिला, माण्डवी तथा श्रुतिकीर्ति जी उनको घेर लेती हैं। जानकी मौन, एक टक जल धाराओं को देखती हैं

जिनमें उनका सर्वस्व लोप हो चुका है। फिर वे यज्ञ कुटी में जाती हैं जहाँ बल्कल वस्त्र का त्याग कर श्वेतवस्त्र (जो सात्विकता का प्रतीक है) धारण करती हैं। उपरान्त आचार्य पुनः यज्ञ शाला में आते हैं। वेदोच्चारण द्वारा जानकी जी द्वारा यज्ञ सम्पादित होता है। वे धरती में समाने को तैयार होती हैं। प्रजा एक बार फिर तड़प उठती हैं ! जानकी ! तूने क्या पाया ? चौदह वर्ष का वनवास लंका की घोर यातनायें ! पुनः परित्यक्ता, तापस वल्कलधारी जीवन ! और अब ! सभी सुखों से शून्य होकर जा रही है धरती समाने ! जानकी ! इस निष्ठुर समाज ने तुझे क्या दिया। अब तू धरती के भीतर गुफा में, सभी सुखों का त्याग कर मात्र तपस्या करेगी। अपने बालकों को भी तो.......

बेचारे लव–कुश ! पिता गये ! मातृ सुख से विहीन हो गये ! मर्यादा की बलिवेदी पर............

जानकी जी बाहर आई हैं। लव–कुश दूर उदास खड़े देख रहे हैं। महर्षि बाल्मीकि उनके साथ हैं। जानकी जी सरयु के तट पर आती हैं। माँ सरयु की पूजा करती हैं। पुष्पांजलि अर्पित करती हैं। आंसुओं से भीगी हुई! सरयु शान्त है। स्थिर है ! कैसा रहस्यमयी मौन है !

जानकी जी, मांडवी, उर्मिला और श्रुतकीर्ति के साथ जा रही हैं। लक्ष्मण जी के धैर्य के बांध टूट गये हैं। लव और कुश को सीने से भींचकर पागलों की तरह वे कभी सरयु को और कभी ओझल होती जानकी को देख रहे हैं ढाहें मारकर रोते हुये।

।। नारायण हरि।।

सरयु के तट

निर्वस्त्र देह सरयु के उस पार प्रकट हुई है। सन्यासियों ने गेरुआ वस्त्र से उसे ढक लिया हैं सारे अतीत को जलाकर, नाते–रिश्ते जलाकर एक चिता में स्वयं भी जलकर; जल की धाराओं से नित्य स्वरूप प्रकट हुआ है। ज्वालाओं के वस्त्र से सुशोभित है। उसके अतीत की चर्चा अब नहीं कर सकते। अतीत की चर्चा महापाप है। उसका न काई अतीत है–वह सदा वर्तमान है। अग्निवेश नित्य पुरुष है वह। चल दिया है जीवन की पद चिन्ह विहीन राहों पर। नितान्त अकेला...........

कभी तीन जोड़ी पांव, चौदह वर्ष के वनवास को चले थे। संग धनुष–बाण चले थे। आज सिर्फ एक जोड़ी पांव हैं; न धनुष है न वाण है– ''एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'' सब में एक ईश्वर ही है। यही मन्त्र है–

न मित्र–शत्रु का भेद है। न मेरे तेरे की बात है– न इच्छा है, न चाह है–बस एक प्रभु की राह है...........

उस पार जाता सन्यासी ! उस ओर जा रही धरती में समाने एक नित्य तपस्विनी !

इस पार घाट पर भोले बालकों को सीने से भीचे फफक–फफक कर रोता निष्पाप, भक्त ह्रदय, समर्पित लक्ष्मण– हे राम–

सरयु के तट; युग तुझे याद कर रोते रहे हैं ! रोते रहेंगे–तेरी मर्यादाओं को दुहराते रहेंगे–मर्यादा पुरुषोत्तम–तू ही सत्य है ! हे घनश्याम–हे नीलाभ दीप्तियों के स्वामी–शत्–शत् प्रणाम् !

श्रोता मित्र ! तुमने पूछा है कि तू कौन है ? रे सन्यासी ? मात्र परिचय है, न कोई सन्यासी–बस एक युगान्तर पापी ! जब भी सरयु के तट पर पाता हूँ शरीरी अथवा अशरीरी, उन्हीं के चरणों में बरस जाता हूँ। युग खो देते हैं जब श्री राम–फिर रुप भरता हूँ–अति पावन कथा सुनाता, पुनः उन्हीं कथा अन्तरालों में खो जाता हूँ। जन–जन को प्रणाम ! हे राम ! हे राम !!